

## इतिहास का प्रामाणिक लेखन और राजेंद्र माथुर

- राजेश बादल

भारतीय हिंदी पत्रकारिता इन दिनों संक्रमण काल का सामना कर रही है। अनेक विधाएँ धीरे-धीरे दम तोड़ती नज़र आ रही हैं। सामाजिक नज़रिए से उनकी आवश्यकता है, लेकिन बाज़ार का दबाव कुछ ऐसा है कि साहसपूर्ण मुकाबला करना पत्रकारों और संपादकों के लिए आसान नहीं है। मीडिया के नए और आधुनिक अवतारों ने विचारपूर्ण लेखन, ऐतिहासिक घटनाओं का निरपेक्ष लेखन, खोजी पत्रकारिता, ग्रामीण पत्रकारिता, विकास पत्रकारिता, शानदार संपादकीय टिप्पणियों और गुणवत्ता से परिपूर्ण संपादकीय पृष्ठों को अखबार के पन्नों से विलुप्त सा कर दिया है। टेलिविज़न ने हिंदुस्तान को अप मार्केट और डाउन मार्केट की दो श्रेणियों में बाँट दिया है। अप मार्केट याने महानगरों और शहरों पर केंद्रित खबरें। इस श्रेणी के बारे में धारणा है कि उसे पढ़े लिखे लोग देखते हैं। उससे टीआरपी बढ़ती है और विज्ञापन मिलते हैं। डाउन मार्केट वह श्रेणी है, जिसमें भारत की नब्बे फीसदी आबादी रहती है। अर्थात् जानबूझकर देश की प्रतिनिधि आवाज़ की उपेक्षा। दुष्परिणाम यह हुआ है कि प्रिंट माध्यम में भी टीवी की खबरें ड्राइविंग सीट पर जा बैठी हैं। चैनल उद्योग आने से पहले अखबार ड्राइविंग सीट पर बैठे हुए थे। उन्नीस सौ इक्यान्वसे से इस पतन की शुरुआत मानी जा सकती है। यही साल हिन्दी पत्रकारिता के शलाका पुरुष राजेन्द्र माथुर के हमारे बीच से जाने का साल है। तबसे अट्ठाईस साल हो गए। हर साल राजेन्द्र माथुर और शिद्धत से याद आते हैं।

कुछ जानकार कहते हैं कि आज राजेन्द्र माथुर होते भी तो शायद कुछ न कर पाते। मेरा निवेदन है कि या तो उन्हें राजेन्द्र माथुर काल के दौरान भारतीय पत्रकारिता के सामने आई चुनौतियों की जानकारी नहीं है या फिर उन्होंने राजेन्द्र माथुर को पढ़ा नहीं है। जब आपके बीच कोई चक्रवर्ती संपादक मौजूद रहता है तो बाज़ार के चक्रव्यूह से निकलने का रास्ता मिल ही जाता है। अफ़सोस! आज कोई ऐसा संपादक पत्रकारिता में नज़र नहीं आता। निराशावादी होना ठीक नहीं है, लेकिन आज पत्रकारिता के पेशे में परिस्थितिजन्य इतने दबाव हैं कि अंधी सुरंग में मशाल थामने का वक़्त या साहस भी कोई नहीं निकाल पा रहा है। राजेन्द्रमाथुर के लेखन की यह मशाल हरदम मौजूद है।

आज पत्रकारों की साख में गिरावट आई है। प्रामाणिक, निष्पक्ष और सरोकारों पर केंद्रित लेखन मौजूदा पत्रकारिता से अस्तित्व की लड़ाई में हारता नज़र आ रहा है। यह चिंता की बात है। आज़ादी के आंदोलन से लेकर आपातकाल तक और आधुनिक तकनीक से लेकर माध्यमों के नए अवतारों तक का घटनाक्रम गवाह है कि जब भी कलम ने हालात के आगे हथियार डाले तो स्थितियाँ बिगड़ी ही हैं। अतीत को भूलने का खामियाज़ा हमें भुगतना ही पड़ेगा। जो क्रौम अतीत को भूलती है, उसकी जगह भी इतिहास का कूड़ेदान ही है। अतीत की बुनियाद पर ही भविष्य की इमारत खड़ी होती है। जब तक इतिहास की ईंटें मजबूत रहती हैं, हर सभ्यता फलती-फूलती और जवान होती है। लेकिन जैसे ही ईंटें खिसकने लगती हैं, इमारत कमज़ोर होती जाती है। शिल्पियों ने अगर सही ईंट का चुनाव न किया तो घुन लगता है। इमारत जर्ज़र होती है। ज्ञान के जिस गारे का इस्तेमाल ईंट तैयार करने में होता है, वह मिलावट की माँग नहीं करता। भारतीय लोकतंत्र की इमारत से इन दिनों जानवान ईंटें खिसकने की शुरुआत हो चुकी है। इमारत में रहने वाले बेखबर हैं। सवाल यह है कि किस भट्टे से विचारों की आँच में पकी ईंटों को लिया जाए ? न वो भट्टे रहे न वो ईंटें, न वो गारा और न वो शिल्पी। आज़ादी के आंदोलन में पत्रकारिता के कई शिखर

पुरुषों ने आहुति दी है। नींव के उन पत्थरों ने देश की इमारत को स्वतंत्रता के बाद अनेक साल मूल्यों और सरोकारों से जोड़ कर रखा। अगली पीढ़ी ने भी यह जिम्मेदारी बखूबी निभाई। लेकिन इसके बाद हम लोग इस विरासत और परंपरा को सँभाल कर नहीं रख पाए। अतीत और वर्तमान का प्रामाणिक लेखन अब अपेक्षाकृत नहीं के बराबर है। बाज़ार का दबाव, रीढ़वान संपादकों का अकाल और पत्रकारिता का पेशा बन जाना इसके मूल में है। मालिकों और राजनेताओं ने मीडिया को मंडी में तब्दील कर दिया है। हर मोड़ पर बिकने को तैयार और हर मोड़ पर खरीददार। अफ़सोस इस वातावरण में जो नई ईंटें पक रही हैं, वे इसी को असल पत्रकारिता समझ बैठी हैं। आने वाली नस्लें भी ऐसे ही आती रहेंगीं। फिर इस माहौल में आशा की किरण कौन सी है ? उत्तर है - तकनीक। अगर उस तकनीक का संरक्षण हम कर सकते हैं, जिसके ज़रिए विचारों के भट्टे में पकाई जानवान ईंटों से एक बार फिर मज़बूत इमारत खड़ी की जा सकती है तो निराशा के अँधेरे में डूबने का कोई कारण नज़र नहीं आता। यह तकनीक उस लेखन में उपलब्ध है, जो राजेन्द्र माथुर दे गए हैं। आज हम देश और दुनिया की मौजूदा कहानी पत्रकारिता के निरपेक्ष और प्रामाणिक चश्में से देखने-लिखने की आदत भूल चुके हैं। मगर आज़ादी के बाद चालीस-पचास साल की पत्रकारिता हमें भूलने की इजाज़त नहीं देती। राजेन्द्र माथुर ने हमारे सामने हिंदुस्तान के सफ़र का जो दस्तावेज़ प्रस्तुत किया है, वैसा लेखन पत्रकार-संपादक तो छोड़िए, इतिहासकार भी नहीं कर पाते। विडंबना है कि आधुनिक भारत की कहानी समग्र रूप से नहीं लिखी गई है। जो टुकड़ा-टुकड़ा खंडित इतिहास हमारे सामने आया है, वह निजी अनुभवों और पूर्वाग्रहों की झलकी मात्र है। अनेक जानवान पाठक मुझसे असहमत हो सकते हैं। उन्हें अधिकार है। मगर निवेदन है कि राजेन्द्र माथुर को एक बार पढ़ लीजिए। आपकी धारणा बदल जाएगी। अफ़सोस ! वो हमारे बीच से जल्दी चले गए। भारत में आज़ादी के बाद इतिहास लेखन पर उन्होंने लिखा था, "आज के और 1947 से पहले के इतिहास लेखन में बड़ा फ़र्क है। इसे ध्यान रखना होगा। जब अँग्रेज थे तो हमारी बुराई बताया करते थे। हमारे मालिक थे। अपने आपको ऊँचा साबित किए बिना साम्राज्य नहीं चला सकते थे, लेकिन आज भारत के महत्त्व और अंतरराष्ट्रीय कूटनीति की नज़ाकत समझते हुए कोई इतिहासकार भारत की सच्चाइयों को कड़वे और नीम चढ़े ढंग से प्रस्तुत नहीं करेगा। उसका लहज़ा प्रियम ब्रुयात का ही होगा, जिससे भारत में उसे दरवाज़े बन्द न मिलें। भारत के विद्वानों पर यह जिम्मेदारी आ गई है कि वे सच्चाई को निर्मम ढंग से उजागर करना और ग्रहण करना सीखें ताकि अपनी ही गुलाबी गलतफ़हमियों में गिरफ़्तार होकर हम फिर से पतनोन्मुख न बन जाएँ।"

आज़ादी मिले सिर्फ़ दस-पंद्रह बरस बीते थे। देश के नवनिर्माण का सपना धुँधलाने लगा था। राष्ट्रीयता का संकल्प कपूर की तरह उड़ता जा रहा था और राजेन्द्र माथुर ने हालात का बयान कुछ इस तरह किया - "अगर भारत का राजनीतिक वातावरण दिन ब दिन हताश, सूखा और बंजर होता जा रहा है तो यह इसलिए चिंता का विषय नहीं है कि हिमालय पार के पागल क्रांतिकारी हम पर चढ़ आएँगे। चीन के खिलाफ़ तो दुनिया की दूसरी ताकतें हमें गारन्टी दे सकती हैं लेकिन अपने आप के खिलाफ़ हमें कौन गारन्टी देगा? हम यह क्यों माने बैठे हैं कि हमारी इमारत को कोई धक्का नहीं देगा तो वह कभी गिरेगी ही नहीं। भारत की ज़मीन पर यदि चीन के घुडसवार नहीं आए तो हमारी प्रजातांत्रिक प्रणाली पर तानाशाही के घुडसवार तो चढ़ाई कर ही सकते हैं। जैसा वे पाकिस्तान में कर चुके हैं। तब उन मूल्यों का क्या होगा, जो इन सोलह वर्षों में हमने बड़ी मेहनत से कायम किए हैं। चीन की चुनौती का जवाब देने के लिए सबसे ज़रूरी यह है कि हम जनता में उज्ज्वल भविष्य के प्रति आस्था उत्पन्न करें। आस्था का अभाव तेज़ाब की तेज़ी से समाज की नींवों को गला देता है। यह याद रखना चाहिए।"

हिंदुस्तान के इतिहास में नेहरूयुग का अपना अलग महत्त्व है। उनके बारे में राजेन्द्र माथुर की कलम से निकला, "अगर नेहरू को मूर्ति और अवतार न मान कर सिर्फ़ इंसान माना जाए तो उनके व्यक्तित्व की अनेक गहरी परतें एक के बाद एक खोली जा सकती हैं। मगर इस तरह व्यक्ति को समझने का रिवाज़ हमारे देश में कम है। हम महापुरुषों को ईश्वर का नुमाइंदा मानते हैं और मनुष्य -मनुष्य में भले ही फ़र्क होता हो, लेकिन ईश्वर-ईश्वर में फ़र्क

नहीं हो सकता। नेहरू से संबंधित सामग्रियाँ तो काफी सरगर्मी से बटोरी जाएँगी। संभावना कम है कि उस सामग्री की व्याख्याएँ कम हों। इंटरप्रेटेशन की योग्यता भारत में अभी पूरी तरह उदित नहीं हुई है। अठारहवें गणतंत्र दिवस पर वो हमारे सोच पर प्रहार करते लिखते हैं, "भारत सचमुच अजीब देश है। उन्नीस सौ बयालीस के अकाल में लाखों लोग कलकत्ता के फुटपाथों पर मर गए। इतने बड़े असन्तोष की आग में ब्रिटिश साम्राज्य का महल जल कर भस्म हो जाना चाहिए था और मुनाफ़ाखोरी का रिवाज़ भी। लेकिन वह नहीं हुआ। हिंदुस्तान में आग तब लगी, जब धर्म की बेमतलब लड़ाई शुरू हुई। पंजाब और बंगाल के धर्म युद्ध में लाखों सर कट गए और करोड़ों शरणार्थी बन गए।"

अतीत के अध्याय तुलनात्मक अध्ययन कैसे सिखाते हैं, जरा देखिए, "भारत की सभ्यता इस माने में अदभुत है कि इतना स्थिर समाज सदियों तक चीन के अलावा कहीं और नहीं रहा। लेकिन सामाजिक स्थिरता के साथ साथ जितनी राज्यगत अराजकता भारत में रही है उतनी पृथ्वी पर और कहीं नहीं रही। हमारा समाज हिमाचल की तरह अटल रहा। राजा और राज्य समुद्र की लहरों की तरह क्षणभंगुर रहे। ऐसा क्यों हुआ? चक्रवर्ती राजा की अवधारणा के बाद भी सच्चे चक्रवर्ती उँगलियों पर आसानी से क्यों गिने जा सकते हैं ? चीन की तरह अखण्ड देश और अखण्ड समाज हम क्यों नहीं बना सके?"

भारतीय इतिहास, उसके सोच और राजनीतिक व्यवस्था का मिश्रण लेखन हमारे पाठ्यक्रमों में हाशिए पर है। न मीडिया में और न अन्य शैक्षणिक पाठ्यक्रमों में। इस हाल में भारत की नई नस्लें विचार और दर्शन के बन्द दरवाज़ों को देखकर पनप रहीं हैं। खतरा बड़ा है। क्या हम इसे भाँप रहे हैं? शैक्षणिक पाठ्यक्रमों में न सही तो कम से कम मीडिया संस्थानों में सोच के स्वस्थ बीज अंकुरित किए जाने चाहिए। एक-एक बीज से विकसित वृक्ष समाज में मानसिक शीतलता और झूम झूम कर ताज़ी हवा के झोंके तो देता ही रहेगा। चालीस पैंतालीस बरस पहले राजेन्द्रमाथुर की टिप्पणी देखिए - फूट कोई बाहर वाला नहीं डालता। फूट और एकता दोनों ही क्रौमों के भीतर बसती हैं। भारत का बँटवारा तो अँगरेज़ करके गए, लेकिन श्रीलंका को तो बाँट कर वे नहीं गए थे। फिर क्या कारण है कि आज़ादी के 38 साल बाद लंका विभाजन की कगार पर है। क्या कारण है कि पाकिस्तान 1971 में टूटा? क्या कारण है कि अंगरेज़ों की विदाई के चौदह साल बाद 1974 में साइप्रस नामक द्वीप-देश दो भागों में बँट गया? लेबनॉन की आबादी साथ रहने का उपाय क्यों नहीं खोज पा रही? सारी दुनिया में फूट डालने वाले अंगरेज़ों के घर में क्या हो रहा है? 1921 में आयरलैंड का बँटवारा किसने कराया? 1969 से उत्तरी आयरलैंड सुलग रहा है और आतंकवाद को खत्म करने का तरीका किसी सरकार को समझ नहीं आ रहा है। इस तरह संघीय ढाँचे में जहाँ भारत यूरोप से भी आगे निकल चुका है, वहाँ ब्रिटेन अभी ग्रेट ब्रिटेन तक नहीं बन पाया।"

एक और उदाहरण, "कभी-कभी लगता है कि भारतीय राष्ट्र-राज्य किसी जापानी सूमो पहलवान का ओवरकोट है, जिसे कीकड़ ( दुबले ) बदन के आदमी ने पहन लिया है। यह कोट हमें मिला है। उसे अपने बढ़ते बदन के अनुसार हमने समय समय पर सिला नहीं है। लेकिन अब कीकड़ पहलवान चाहता है कि ओवरकोट की ज़रूरतों के मुताबिक शरीर का विकास हो और वह विराट आकार का बन जाए। विकास हो भी रहा है, क्योंकि ओवरकोट को शरीर से अधिक महत्वपूर्ण मानना भारत की सनातन परंपरा है। पहले हम एक साँचा बना लेते हैं । फिर जीवन को उसमें ढालते हैं। ज़िल्द पहले, किताब बाद में। टेलीविजन पहले, कार्यक्रम बाद में। राष्ट्र पहले, राष्ट्रियता बाद में। विवाह पहले, प्यार बाद में। लेकिन भारत के बाल विवाह भी पश्चिम के वयस्क विवाहों से पुख्ता होते हैं कि नहीं? इसलिए कह सकते हैं कि भारत की एकता इस शर्त पर कायम रहेगी कि जी जान से अखिल भारतीयता की कद्र करने वाला जो वर्ग इस देश में है ,उसकी अस्मिता की कद्र की जाए। उसने जो लक्ष्मण रेखाएँ खींच रखी हैं, उनका आदर किया जाए। यह सवाल महज चुनाव जीतने या हारने का नहीं है, सवाल यह भी है कि जो वर्ग भारत को शेषनाग की तरह टिकाए हुए है, उसके स्वैच्छिक सहयोग के बिना कोई स्थिरता कायम रह सकती है? जो देश स्थाई रूप से नाराज़ और असहमत हो, वो क्या तेज़ी से तरक्की कर सकता है?"

इन दिनों कश्मीर का मसला सुर्खियों में है। राजेंद्र माथुर ने 1965 में क्या लिखा था। एक नज़र, “कश्मीर में हम घुसपैठियों से लड़ते रहें और रेखा पर उनके अड्डे पनपने दें। इसका मतलब यह होगा कि हम मलेरिया के इंजेक्शन लगाते रहें, लेकिन मच्छरों को पनाह देने वाले पोखरों से समझौता कर लें।” बीते दिनों अमेरिकी राष्ट्रपति डोनाल्ड ट्रंप कश्मीर में मध्यस्थता का प्रस्ताव देकर इमरान खान को लुभाना चाहा था। अब देखिए, 54 साल पहले राजेन्द्र माथुर ने कश्मीर समस्या और अमेरिका की भूमिका पर क्या लिखा था, “अमेरिका को आज भी महसूस नहीं हो रहा है कि सितंबर 1965 के युद्ध की सारी जिम्मेदारी अमेरिका की ही है। कश्मीर का झगड़ा कब का सुलझ जाता लेकिन अमेरिका की सैनिक संधियों ने उसे और उलझाया। उसी ने एक आपसी झगड़े का अंतरराष्ट्रीयकरण किया। उसी ने बारह वर्षों में आठ अरब रूपए के हथियार पाकिस्तान को पहुँचाए और फौजी हल निकालने को कहा। उसी ने सुरक्षा परिषद् में पाकिस्तान को शह देकर भरोसा दिलाया कि शीत युद्ध के दबावों से कश्मीर उसकी झोली में आ जाएगा। उसी ने कच्छ और कश्मीर में उस हमलावर की निंदा नहीं की, जिसका हमला ही विदेशी मदद से हुआ था। उसी ने इस महाद्वीप में अशांति फैलाई। जब अमेरिका की नीतियों के परिणाम स्वरूप आक्रमण हुआ तो उसने फ़ौरन भारत से शिकायत शुरू कर दी।” क्या इस तरह का विश्लेषण आज के संपादक करते या कर पाते हैं? दरअसल शब्द की सत्ता शाश्वत है। हर दौर में शब्द अपनी ताकत बरकरार रखता है। वह कभी बासा नहीं होता। क्या हम आज के पत्रकारों-संपादकों और मौजूदा दौर के इतिहास लेखकों को यह समझा सकते हैं ? आसान नहीं है। इसके लिए हमें पूरा तन्त्र खड़ा करना पड़ेगा और इस काम में समाज - छात्रों और शिक्षकों को पूरे मनोयोग से साथ देना पड़ेगा।

प्रस्तुति(मनुज फीचर सर्विस :

नोट: विचार लेखक के अपने हैं, इन विचारों की जिम्मेदारी माखनलाल चतुर्वेदी राष्ट्रीय पत्रकारिता एवं संचार विश्वविद्यालय नहीं लेता।

उक्त आलेख माखनलाल चतुर्वेदी राष्ट्रीय पत्रकारिता एवं संचार विश्वविद्यालय द्वारा शुरू की गई मनुज फीचर सर्विस के अंतर्गत निशुल्क प्रकाशनार्थ प्रेषित है। कृपया आलेख के अंत में मनुज फीचर सर्विस प्रकाशित करने का अनुरोध है।